जिनप्रतिमा और जैनाचार्य

पं० श्रीहंसराजजी शास्त्री

"परस्पराधीतविलोमपाठा सा भारती सा कमलालया च।
निसर्गदुर्बोधपदार्थविज्ञा, स्वां स्वां विभूतिं तनुतां मयीष्टाम्॥"

जैन परम्परा में चैत्य शब्द के शिष्टसम्मत प्राचीन मौलिक अर्थ में प्रतिबिम्बित होनेवाली जिन प्रतिमा को जैनागमों में कहां और किस प्रकार से विधेयता प्राप्त है यह एक अलग विषय है। इस विषय के विचार को किसी और समय के लिये सुरक्षित रखते हुए, इस वक्त तो हम यह देखने का यत्न करेंगे कि जैनपरम्परा के विशिष्ट श्रुतसम्पन्न युगप्रधान आचार्यों का इस विषय में क्या मत है।

इस सम्बध में जहां तक हमारा पर्यालोचन है, हमें तो इनके रचे हुए ग्रन्थों में जिन प्रतिमा का समर्थन अधिक स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में किया हुआ दृष्टिगोचर होता है। यह बात उनके रचे हुए ग्रन्थों के कतिपय निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है—

प्रशमरति[1] प्रकरण—वाचक उमास्वातिने प्रशमरति के २२ वें अधिकरण में गृहस्थ के धार्मिक कर्तव्यों के वर्णन प्रस्ताव में लिखा है—

---

१. (क) यह ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता वाचक उमास्वाति की अन्य प्रौढरचनाओं में से एक है और इसके उमास्वातिरचित होने में निम्नलिखित प्रमाण हैं—

"पसमरइपमुहपयरण पंचसया सक्कया जेहिं।
पुव्वगय वायगाणं, तेसिमुमासाइनामाणं" [गणधर सा. श. गा. ५—श्रीजिनदत्तसू.]

अर्थात् प्रशमरति प्रमुख पांच सौ ग्रन्थों की रचना करने वाले वाचक उमास्वातिको—

(ख) प्रशमस्थेन येनेयं कृता वैराग्यपद्धतिः।
तस्मै वाचकमुख्याय नमो भूतार्थभाषिणे।

अर्थात् जिसने इस वैराग्य पद्धति (प्रशमरति) का निर्माण किया है ऐसे प्रशांत और यथार्थवादी वाचकमुख्य (उमास्वाती) को मैं नमस्कार करता हूं।

(ग) तत्त्वार्थभाष्य के वृत्तिकार श्रीसिद्धसेन प्रशमरति को भाष्यकार की ही कृति सूचित करते हैं। यथा—"यतः प्रशमरतौ (का. २०८) अनेनैवोक्तं परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजन्ति यः।" वाचकमुख्येन त्वेतदेव बलसंज्ञयाप्रशमरतौ (का. ८) उपात्तम् [५।६ तथा ६।६ की भाष्यवृत्तिः] ×××प्रशमरति की १२० वीं कारिका—"आचार्य आह" कहकर निशीथचूर्णि में उद्धृत की गई है। इस चूर्णि के प्रणेता श्री जिनदास महत्तर का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है जो कि उन्होंने अपनी नन्दीसूत्र की चूर्णि में बतलाया है। इस पर से ऐसा कह सकते हैं कि प्रशमरति विशेष प्राचीन है। इस से और ऊपर बतलाये गये कारणों से यह कृति, वाचक की ही हो तो इस में कोई इनकार नहीं" [पं. श्रीसुखलालजीशास्त्री-तत्त्वार्थपरिचय ५०१७ का नोट].

(घ) श्री हरिभद्रसूरि ने भी प्रशमरति को वाचक उमास्वाति की रचना माना है तथा—"यथोक्तमनेनैव सूरिणा प्रकरणान्तरे" ऐसा कहकर श्रीहरिभद्रसूरि, भाष्यटीका में प्रशमरति की २१० वी और दोसौ ग्यारहवीं कारिका उद्धृत करते हैं [तत्त्वार्थपरिचय ८०३१ का नोट]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैत्यायतनप्रस्थापनानि कृत्वा च भक्तितः प्रयतः ।
पूजाश्च गन्धमाल्याधिवासधूपप्रदीपाद्याः[२] ॥ ३०५ ॥

अर्थात्-सम्यग् दृष्टिगृहस्थ अपनी शक्ति के अनुसार श्रद्धापूर्वक चैत्य-जिन-प्रतिमा को आयतन-मन्दिर में प्रतिष्ठित करके उनका गन्धपुष्पधूपदीप आदि सामग्री के द्वारा पूजन करे।

प्रशमरति की इस कारिका में वाचक उमास्वाति ने चैत्य शब्द, प्रतिमा के ही अर्थ में प्रयुक्त किया है और "आयतन" का मन्दिर अर्थ तो स्फुट ही है। तात्पर्य कि इस स्थान में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का जिन बिम्ब-जिनप्रतिमा के सिवा दूसरा कोई अर्थ सम्भव ही नहीं हो सकता। इस कथन से हमें यह दिखलाना अभिप्रेत है कि वाचक उमास्वाति जैसे पूर्ववित् भी चैत्य का मूर्ति ही अर्थ करते और समझते हैं। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थभाष्य की आरम्भिक सम्बन्धकारिकाओं में उल्लेख की गई निम्नलिखित आठवीं कारिका भी द्रष्टव्य है। आचार्य कहते हैं—

" अभ्यर्चनादर्हतो मनःप्रसादस्तथा समाधिश्च ।
तस्मादपि निःश्रेयस-मतो हि तत्पूजनं न्याय्यम् ॥ "

अर्थात्—अर्हन्तों-तीर्थंकरों के पूजन से रागद्वेषादि दुर्भाव दूर होकर चित्त-प्रसन्न होता है-निर्मल बनता है। और मन के प्रसन्न निर्विकार होने से समाधि ध्यान में एकाग्रता प्राप्त होती है। एवं समाधि की प्राप्ति से कर्मों की निर्जरा द्वारा मोक्षपद की उपलब्धि होती है। अतः तीर्थंकारों का पूजन करना सर्वथा न्यायोचित है।

इस उल्लेख में वाचक उमास्वाति ने द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकार की पूजा का निर्देश किया है जिसमें आरम्भ प्रसक्त गृहस्थों के लिये द्रव्य पूजा और आरम्भ के त्यागी मुनियों के लिये भाव पूजा है। इसीको द्रव्यस्तव और भावस्तव के नाम से अन्यत्र उल्लेख किया है।[३]

पउमचरियं—श्रीविमलसूरिविरचित पउमचरिय (पद्मचरित्र)—जो कि विक्रम की प्रथम[४] शताब्दी में रचा गया माना जाता है-में लिखा है कि—

इस के अलावा प्रशमरति पर श्रीहरिभद्रसूरि ने स्वयं व्याख्या लिखी है। यथा—श्रीहरिभद्राचार्यरचितं प्रशमरतिविवरणं किंचित् परिभाव्य बद्धटीकाः सुखबोधार्थं समासेन" [प्रशमरति की प्रस्तावना जैन० प्र० स० भावनगर] इत्यादि प्रमाणों से प्रशमरतिप्रकरण वाचक उमास्वाति की ही कृति निश्चित होता है। उनका [वाचक उमास्वाति का] समय यद्यपि अभी तक अनिश्चित ही है तो भी वे विक्रम की पहली दूसरी शताब्दी से अर्वाचीन तो नहीं हैं।

२. चैत्यं चितयः प्रतिमा इत्येकार्थाः, तेषामायतनमाश्रयः चैत्यायतनानि। प्रकृष्टानि स्थापनानि प्रस्थापनानि, महत्याविभूत्या वादित्रनृत्यतालानुचरस्वजनपरिवारादिकया प्रस्थापनं प्रतिष्ठेति, तानि कृत्वा शक्तितः प्रयत्नवान् यथा प्रवचनोद्भावनं भवति तथा कृत्वेति। पूजा सपर्या, गन्धो विशिष्टद्रव्यसम्बन्धि, माल्यं पुष्पं, अधिवासः पटवस्त्रादि, धूपः सुरभिद्रव्यसंयोगजः, प्रदीपः प्रदीपदानं, आदि ग्रहणादुपलेपन-संमार्जन-खंडस्फुटित-संस्करण-चित्रकर्माणि चेति। [कारिका पृ. ८३]

३. इसके लिये देखो आवश्यकनिर्युक्ति और भाष्य तथा पूज्य हरिभद्रसूरिजी का निम्न उल्लेख—
दव्वत्थय भावत्थयरूवं एयमिय होत्ति दट्ठव्वं ।
अण्णोण्णसमनुविद्धं णिच्छयतो भणिय विसयंतु ॥ पंचा. ६। २७ ॥

४. पंचेव सय वाससया, दुसमाए वीसवरससंसजुत्ता।
वीरे सिद्धिमुपागये तओ निबद्धं इमं चरियं ॥ पृ० ३६५ ॥
अर्थात जब वीर निर्वाण को ५३० वर्ष हो चुके थे (वि. सं. ६० में) तब इस चरित्र की रचना की गई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"वंदणविहाणपूयणकमेण काऊण सिद्धपडिमाणं ।
अह ते कुमारसीहा चेइयभवणा पइसरंति" ॥ [१७० पृ. २४]

अर्थात्—वे राजकुमार सिद्धप्रतिमाओं का यथाक्रम बिधिपूर्वक बंदन पूजन करके चैत्यभवन से बाहर आते हैं।

इस उल्लेख से प्रतिमा पूजन को जो समर्थन प्राप्त होता है वह किसी अन्य स्पष्टीकरण की अपेक्षा नहीं रखता।

बृहत्कल्प[1] भाष्य—बृहत्कल्प भाष्य की निम्न लिखित गाथा में अदृष्टपूर्व युगप्रधान आचार्यों तथा विशुद्ध संयमी श्रुत सम्पन्न साधुओं एवं पुराणे और नये चैत्यों–प्रतिमाओं को बन्दनार्थ जाने का उल्लेख है—

"अपुव्वविवित्तबहुस्सुआ य परियारवं च आयरिया।
परिवार बज्जसाहू. चेइय पुव्वा अभिनवा वा। (२७५३ पृ. ७७६)

यहां पर उल्लेख किये गये पुरातन और नवीन चैत्यों का अर्थ पुराणी और नई जिन प्रतिमायें ही संभव हो सकता है। टीकाकार ने भी यही अर्थ किया है—

"चैत्यानि पूर्वाणि वा चिरंतनानि जीवंत[2]स्वामिप्रतिमादीनि अभिनवानि तत्कालकृतानि-एतानि ममादृष्टपूर्वाणि इति बुध्या तेषां वन्दनाय गच्छति" अर्थात् यहां पुरातन से जीवंत स्वामी की प्रतिमा आदि को समजना और अभिनव से उस समयकी प्रतिष्ठित प्रतिमायें जाननी।

---

१. बृहत्कल्पभाष्य के रचयिता युगप्रधान आचार्य संघदास गणि क्षमाश्रमण हैं। इनका समय बिक्रम की सातवीं शताब्दी के पूर्व है और ये जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण से कुछ प्राचीन हैं। पंचकल्पभाष्य और वसुदेव हिण्डी ये दोनों इन्ही की कृतियां हैं। [जैन सा. का इतिहास ६.१४१]

२. जीवंत स्वामी नाम की तीर्थंकर प्रतिमा का प्राचीन जैनग्रन्थों में अनेक जगह उल्लेख पाया जाता है, उनके देखने से वह अत्यन्त प्राचीन प्रमाणित होती है। निशीथचूर्णि कल्पचूर्णि और आवश्यकचूर्णि के उल्लेखों से सिद्ध होता है कि,–आचार्य महागिरि तथा आचार्य सुहस्ति श्री जीवंत स्वामी की प्रतिमा के वादनार्थ विदिशा और उज्जयनी में गये।

यथा—

(क) अण्णया आयरिया बिति दिसे जिय पडिमं वंदियागता (निशी. चू. पृ. १६१)

(ख) दोविजणा बितिदिसंगया, तत्थ जियपडिमं बंदित्ता अज्ज महागिरी एकच्छं गया गयग्ग पद वंदया ××× सुहत्थी वि उज्जेणि जियपडिमं वंदियागया (आ. चूर्णि)

(ग) "इत्तो अज्जसुहत्थी उज्जेणि जियसामिं वंदओ आगओ" (कल्पचूर्णि) आर्यमहागिरी और आर्य सुहस्ति ये दोनों आर्य स्थूलभद्र के हस्तदीक्षित शिष्य हैं। इनकी दीक्षा वीर निर्वाण १६१ और २२१ में तथा युग प्र. २१५ और २४५ में हुआ [वीरनि. सम्वत् और जैनकालमणना पृ. ६४] इससे साबित होता है कि बिक्रमपूर्व तीसरी शताब्दीसे भी बहुत पहले जीवंत स्वामी नाम की तीर्थंकर प्रतिमा जैन परम्परा में विशेष प्रख्यात थी। अतएव दूर दूर से भाविक गृहस्थ तथा संभावित मुनिवर्ग उसके दर्शनार्थ आते थे। इसका सबूत वसुदेव हिण्डी के निम्न लिखित कथांश से भी मिलता है—

"तेण सत्थेण समं बहुसिस्सिणीपरिवारा जिणवयणसारदिट्ठपरमत्था सुव्वया नाम गणिणी जीवंत-सामिवंदिया वच्चइ०" [पृ. ६१]

अर्थात् संघ के साथ अनेक शिष्याओं से परिवृत्त जिन प्रवचन के परमार्थ को जानने वाली सुव्रता नाम की गणिनी-प्रवर्तिनी जीवन्त स्वामी को वन्दना करने के लिये उज्जयिनी को जा रही थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीतकल्प भाष्य—जीतकल्प और उसके सोपश भाष्य में भी साधु को दूर अथवा नज़दीक में रहे हुए चैत्य को वन्दना करने के लिये जाने का उल्लेख है—

(क) "चेइयवंदणहेउं गच्छे आसण्णदूरं वा (गाथा ७७४ पृ. ६६)
"चेइयवंदणनिमित्तं आसन्नं दूरं वा गच्छेज्जा" (चूर्णि पृ. ७)

(ख) विशेषावश्यकभाष्य के मूर्तिवाद समर्थक प्रकरण में से भी यहां एक गाथा का उल्लेख किया जाता है—

"कज्जा[1] जिणाण पूया परिणामविसुद्धहेउओ निच्चं।
दाणाइउ व्व मग्गप्पभावणाओ य कहणं वा ॥ ३२४७ ॥

इसका भावार्थ यह है कि गृहस्थ को प्रतिदिन जिनपूजा करनी चाहिये। क्यों कि यह दानादि की तरह परिणाम विशुद्धि का हेतु है। विशेषावश्यक भाष्य का यह समग्र स्थल देखने और मनन करने योग्य है।

(ग) आवश्यक भाष्य में द्रव्यस्तव और भावस्तव की व्याख्या इस प्रकार की है—
"दव्वत्थओ पुप्फाई, संतगुणकित्तणा भावे" (१६१)

अर्थात् पुष्पादि के द्वारा जिनप्रतिमा का अर्चन करना द्रव्यस्तव है[2] और भक्तिभाव से उनका गुणोत्कीर्तन-गुणगान करना भावस्तव कहलाता है। इसके अतिरिक्त आवश्यक चूर्णि और आवश्यक वृत्ति में महाराज उदायी के द्वारा उसकी राजधानी पाटलीपुत्र के मध्य में एक भव्य जिन मन्दिर बनवाये जाने का उल्लेख है। यथा—

(क) नगरनाभीए उदा[3]इणा जिणघरं कारितं (पृ. १७८)

(ख) "णयरनाभिए य उदायिणा चेइयहरं कारावियं—नगरनाभौ च उदायिना—चैत्यगृहं कारितं" [आ. वृ. पृ. ६८६]
आवश्यकचूर्णि और आवश्यक वृत्ति के उपर्युक्त उल्लेखों का समर्थन श्री जिनप्रभसूरि ने अपने

(इ) जीतकल्प और उसके भाष्य के निर्माता की जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं, और विशेषावश्यक भाष्य भी इन्ही की ही रचना है। जैन परम्परा में इन के व्यक्तित्व को इतना उच्च स्थान प्राप्त है कि इनके वचनो को उत्तरवर्ति आचार्यों ने आगमों की समान कक्षा में स्थान दिया है। जैन पट्टावलि के अनुसार इनका समय वीर निर्वाण से ११९५ (वि. सं. ४५५) आंका जाता है।

१. छाया—कार्या जिनादिपूजा, परिणामविशुद्धिहेतुतो नित्यम्।
दानादय इव मार्गप्रभावनातश्च कथनमिव॥

२. द्रव्यस्तवः पुष्पादिभिः समभ्यर्चनम् (हरिभद्रसूरि आ. वृ. ४६२)

३. उदायी अजातशत्रु कोणिक का उत्तराधिकारि था। उसका जन्म विक्रम पूर्व ४७८ में हुआ वीर निर्वाण के समय उसकी आयु ८ वर्ष की थी। विक्रमपूर्व ४३८ तथा वीर निर्वाण ३२ में राज्याभिषेक और वि. पूर्व ४१० तथा वीर निर्वाण ५० में स्वर्गवास हुआ।

जैनपरम्परा के प्राचीन इतिहास से जाना जाता है कि जैन राजाओं का यह नियम था कि जहां कहीं पर वे नवीन नगर या कोट आदि का निर्माण करते वहां साथ ही जिनमन्दिर की स्थापना भी कराते। इसके लिये कांगड़ा, जैसलमेर और जालोर (मारवाड़) आदि के प्राचीन दुर्गवर्ती जिन मन्दिर आज भी उदाहरण रूप में मौजूद हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विविध तीर्थकल्प में "तन्मध्ये श्रीनेमिचैत्यं राज्ञाकारि" (अर्थात् राजा उदायी ने पाटलीपुत्र नगर के मध्य में श्री नेमिनाथ का चैत्य बनाया) इन शब्दों में किया है (पाटलीपुत्र कल्प पृ. ६८)

श्रीहरिभद्रसूरि—

जैनपरम्परा में श्री हरिभद्रसूरि का स्थान बहुत ऊंचा है, उन्होंने जैन परम्परा के धार्मिक साहित्य में जिस अलौकिक दिव्य जीवन का संचार किया है वह एक मात्र उन्ही को आभारी है। इनके ग्रन्थों में जों मध्यस्थता, गम्भीरता और सत्यप्रियता दृष्टिगोचर होती है वह अन्यत्र कदाचित् ही दिखाई पड़ती है। उनके व्यक्तित्व में रही हुई अलौकिक ज्ञानविभूति से प्रभावित हुए तदुत्तरवर्ति आचार्यों[1] ने-श्री सिद्धर्षि, श्रीजिनेश्वरसूरि, श्रीवादिदेवसूरि, श्रीलक्ष्मणगणि आचार्य, श्री मलयगिरि, श्री प्रद्युम्नसूरि उपाध्याय, श्री यशोविजयजी आदि विशिष्ट विद्वानों ने इनके विषय में श्रद्धापूरित हृदय से जो भक्तिभाव प्रकट किया है, उसको देखते हुए तो उनके बचनों पर हमारा विश्वास और भी सुदृढ हो जाता है। अस्तु अब हम पूज्य हरिभद्रसूरि के प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखने वाले विचारों का अतिसंक्षेप से दिग्दर्शन कराते हैं।

पूज्य हरिभद्रसूरि ने अपने सद्ग्रन्थों में द्रव्यस्तव और भावस्तव अर्थात् द्रव्य और भावरूप से प्रतिमा पूजन को पुष्कल स्थान दिया है वे स्तवविधि—पूजाविधि को आगमशुद्ध[2] और विहितानुष्ठान[3] मानते हैं यह स्तव-पूजा द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार का है। द्रव्यस्तव और भावस्तव। इसीका दूसरा नाम द्रव्यपूजा और भावपूजा है। इनमें द्रव्य पूजा का अधिकारी गृहस्थ है और भाव पूजा का अधिकार साधु को है। परन्तु सूत्रोक्त बिधि[4] के अनुसार अनुष्ठान किया गया यह द्रव्यस्तव भावस्तव का कारण होता है। अतः

१. विषं विनिर्धूय कुवासनामयं, व्यचीचरद्यः कृपया मदाशये।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधा नमोस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये॥ [उपमितिभवप्रपंच पृ. १६]
येषां गिरं समुपजीव्य सुसिद्धविद्या-
मास्मिन् सुखेन गहनेऽपि पथि प्रवृत्तः।
ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः
श्रीसिद्धसेनहरिभद्रमुखाः सुखाय (शास्त्रवार्तासमु. टीका)
अन्य आचार्यों के उल्लेख विस्तारभय से नहीं दिये गये।

२. "थयविहिमागमसुद्धं" (पंचाशक ६।१)
स्तवः पूजा तस्य विधिर्विधानं प्रकाराः स्तवविधिस्तम्। आगमः स्तवपरिज्ञानार्थं आप्तवचनं तेन शुद्धस्तदुक्तानुवादेन निर्दोषः आगमशुद्धस्तम् (अभयदेवसूरि)
अर्थात् पूजाविधि यह आप्तवचन के अनुसार होने से निर्दोष है।

३. तत्तो पडिदिणपूयाविहाणओ तह तहेव कायव्वं।
विहिताणुट्ठाणं खलु भवविरहफलं जहा होति॥ (पंचा. ८।५०)
(ततः प्रतिदिनं पूजाविधानतः तथा तथा इह कर्तव्यम्।
विहितानुष्ठानं खलु भवविरहफलं यथा भवति॥)
विहितानुष्ठानं-पूजावन्दनयात्रास्नानादि। (अभयदेवसूरि)

४. सुत्तभणिएण विहिणा गिहिणा निव्वाणमिच्छमाणेण।
तम्हा जिणाण पूया कायव्वा अप्पमत्तेण॥ (पंचा. ४।४६)
व्या. सूत्रभणितेन-आगमोक्तेन विधिना-विधानेन पूजा कर्तव्या केनेत्याह-गृहिणा-गृहस्थेन साधोरनधिकार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृहस्थ के प्रतिदिन के धार्मिक कर्तव्यों में आचार्य हरिभद्र ने इसे द्रव्यस्तव को मुख्य स्थान दिया है और मुमुक्षु गृहस्थ के लिये आगमोक्त विधि के अनुसार अप्रमत्त भाव से इसके अनुष्ठान का आदेश दिया है। इसके अतिरिक्त द्रव्यस्तव और भावस्तव—द्रव्यपूजा और भावपूजा ये दोनों एक दूसरे से अनुप्राणित हैं—परस्पर अनुस्यूत[1] हैं और साधु तथा गृहस्थ दोनों के लिये अनुष्ठेय हैं। जैसे द्रव्यपूजा के अनन्तर स्तुतिवन्दनरूप भावपूजा गृहस्थ करता है उसी प्रकार भावस्तव के अधिकारी साधु को भी अनुमोदना रूप में द्रव्स्तव के अनुष्ठान का अधिकार है। अर्थात् गृहस्थ के द्वारा आचरित द्रव्यस्तव—द्रव्यपूजा की अनुमोदना साधु के लिये इष्ट अथ च विहित[2] है। इस कथन से पूजाविधि को श्रीहरिभद्रसूरि के वचनों में जो शास्त्रीय महत्त्व प्राप्त होता है उसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है।

साधु के लिये अनमोदन रूप से द्रव्यस्तव का विधान करते हुए श्रीहरिभद्रसूरि ने उसका शास्त्रीय समर्थन इस प्रकार किया है—

[3]तंतम्मि वंदणाए पूयणसक्कारहेउ उस्सग्गो।
जतिणो वि हु णिद्दिट्ठो, ते पुणदव्वत्थयसरूवे॥

आचार्य कहते हैं कि चैत्यवन्दन नाम के शास्त्र में अर्थात् आवश्यक सूत्रगत [4] "सव्वलोए अरिहंत-चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए पूयण-वत्तियाए सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए" इत्यादि पाठ से अर्हच्चैत्यों के पूजन और सत्कार के निमित्त-तीर्थंकर प्रतिमाओं की पूजा और सत्कृति के लिये यति को

त्वात्। किं विधेनेत्याह निर्वाणं निर्वृत्तिमिच्छता, निर्वाणव्यतिरिक्तस्य फलस्योपायान्तरेणापि सुलभत्वात्। तस्माद्धेतोः जिनानामर्हतां पूजा-अर्चनं कर्तव्या-विधेया अप्रमत्तेन-अप्रमादवता प्रमादपरिहारेणेति यावत्।
(अभयदेवसूरि)

भावार्थ—निर्वाण की इच्छा रखनवाले गृहस्थ को प्रमाद का परित्याग करके सूत्रोक्त विधि के अनुसार जिनेन्द्रदेवों का पूजन अर्चन करना चाहिये।

यहां पर सूत्रोक्तविधि से, सम्भवतः राजप्रश्नीय सूत्रोक्त पूजाविधि ही अभिप्रेत होनी चाहिये, कारण कि वहीं पर ही विशेष रूप से पूजा विधि का प्रकार वर्णित हुआ है।

१. दव्वत्थयभावत्थयरूवं एयमिय होति दट्ठव्वं।
अण्णोण्णसमणुविद्धं णिच्छयतो भणिय विसयंतु॥ (पंचा. ६।२७)

२. "जइणो वि हु दव्वत्थयभेदो अणुमोयणेण अत्थि त्ति।
एवं च एत्थ णेयं इय सुद्धं तंतजुत्तीए" (पंचा. ६।२८)
(छा. यतेरपि खलु द्रव्यस्तवभेदः अनुमोदनेन अस्ति इति।
एतच्च अत्र ज्ञेयं अनया शुद्धं तंत्रयुक्त्या।)
अर्थात्—भावस्तव में आरूढ होनेवाले साधु को भी अनुमोदन रूप से द्रव्यस्तव का अधिकार शास्त्रसम्मत है—(यतेरपि भावस्तवारूढसाधोरपि, न केवलं गृहिण एव, द्रव्यस्तवभेदो-द्रव्यस्तवविशेषः, अनुमोदनेन-जिनपूजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसादिलक्षणयाऽनुमत्या, अस्ति-विद्यते×××तंत्रयुक्त्या-शास्त्रगर्भोपपत्त्या"
(श्री अभयदेवसूरि)

३. तंत्रे वन्दनायां पूजनसत्कारहेतुरुत्सर्गः।
यतेरपि खलु निर्दिष्टः तौ पुनः द्रव्यस्तवस्वरूपौ॥ ६।२९॥

४. सर्वलोके अर्हच्चैत्यानां करोमि कायोत्सर्गं वन्दनप्रत्ययं, पूजनप्रत्ययं सत्कारप्रत्ययं सम्मानप्रत्ययम्॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी–भावस्तवारूढ साधु को भी कायोत्सर्ग करने का निर्देश श्रीतीर्थंकरादि ने किया है। पूजनसत्कार ये दोनों द्रव्यस्तव–द्रव्यपूजा रूप ही हैं।

श्रीहरिभद्रसूरि आगमविरुद्ध या आगमबाह्य किसी भी बात को स्वीकार नहीं करते। जो आचार शास्त्र विधिनिष्पन्न नहीं, वह अगर तीर्थोद्देशक भी हो तो भी आचार्य को वह मान्य नहीं। आप लिखते हैं—

[1]"समितिपवित्तीसव्वा, आणावज्झ त्ति भवफला चेव"
तित्थगरुद्देसेणवि ण तत्तओ सा तदुद्देसा" (पंचा. ८।१३)

भावार्थ—अपनी बुद्धिकल्पित, शास्त्राज्ञा से बाहर की जो भी प्रवृत्ति है वह सब भवफला–अर्थात् संसार की जन्ममरणपरम्परा को बढ़ानेवाली है, इस प्रकार की आज्ञाबाह्यप्रवृत्ति अगर तीर्थंकरभक्ति मूलक भी हो तो भी वह स्वीकार करने योग्य नहीं, और वस्तुतः उसमें तीर्थंकर भक्तिका उद्देश होता ही नहीं। इस उल्लेख से आचार्य हरिभद्रसूरि की आगमनिष्ठा का अनुमान बड़ी सुगमता से किया जा सकता है। वे आगमविरुद्ध किसी भी प्रवृत्ति के समर्थक नहीं हैं। इस पर से उनके ग्रन्थों में उपलब्ध होनेवाले पूजा-विधायक उल्लेखों का आगममूलक होना भी अनायास ही प्रमाणित हो जाता है। वाचक श्रीउमास्वाति से लेकर श्रीहरिभद्रसूरि तक के आचार्यों ने जिन प्रतिमा के सम्बन्ध में जो विचार प्रदर्शित किये हैं उनका हमने अति संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया है। श्रीहरिभद्रसूरि ने तो इस विषय में बहुत कुछ लिखा है, जो कि विस्तार भय से यहां पर उल्लेख नहीं किया गया। जैन परम्परा के इन संभावित आचार्यों ने जिन प्रतिमा को जितना आदरणीय स्थान दिया है उसपर दृष्टिपात करते हुए जिनाप्रतिमा की शास्त्रीयता और पूज्यता में सन्देह को कोई अवकाश नहीं रहता ॥

अगर वैसे विचार किया जावे तो भगवान महावीर से लेकर विक्रम की सोलवीं प्राताब्दी से पूर्व तक जैन परम्परा में जितने भी विशिष्ट और साधारण आचार्य हुए हैं उनमे से किसीने भी जिनप्रतिमा के विरुद्ध कुछ लिखा हो ऐसा हमारे देखने में नहीं आया और विपरीत इसके परम्परा के सुप्रसिद्ध आचार्यों ने इसको कहां तक उपादेय बतलाया है यह ऊपर दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट ही है।

---

१ स्वमतिप्रवृत्तिः सर्वा आज्ञाबाह्येति भवफला चैव।
तीर्थंकरोद्देशेनापि न तत्त्वतः सा तदुद्देशा ॥

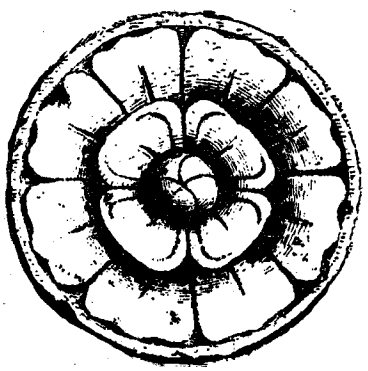

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org